सम्पादकीयम्

महर्षियों एवं अचार्यों ने वेद का **'विद् ज्ञाने'** धातु से ज्ञान अर्थ किया है। ज्ञान क्या पुस्तकों, पुस्तकालयों, प्रयोगों एवं प्रयोगशालाओं में मिलता है ? या कहीं और भी मिल सकता है ? ज्ञान कोई भौतिक वस्तु है या कुछ और? इत्यादि प्रश्न उद्भूत होते हैं। दार्शनिकों ने **ज्ञानस्याधिकरणमात्मा** के अनुसार ज्ञान को आत्मरूपी धरातल में स्वीकार किया है। ज्ञान तो कार्य और कारण के बीच की वह कड़ी है जो दोनों के अस्तित्व का बोध कराती है। इस आधार पर ज्ञान की भी शास्वत सत्ता प्रतिपादित होती है।

वेद भाष्यकार सायण कहते हैं कि **'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं वेदयति यो ग्रन्थोऽसौ वेदः'** । सायण के अनुसार 'इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार' ही वेद का मुख्य उद्देश्य है। इसमें भी इष्टार्थ अनिष्ट परिहार आवश्यक है, अनिष्टपरिहार के उपायों का निर्देश वेद (ज्ञान) से ही सम्भव है। अतः कह सकते हैं कि आदिभौतिक, आदिदैविक एवं आध्यात्मिक इष्टानिष्ट का सम्यक् ज्ञान और अनिष्ट परिहार के लौकिक ही नहीं अलौकिक उपाय करना ही वेद का मुख्य धेय है।

वैदिक दर्शनों के **"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे"** के कथन से ज्ञात होता है कि प्रत्येक पिण्ड में ब्रह्माण्ड के सभी तत्त्व बीज रूप में स्थित रहते हैं। यदि हमें पिण्ड का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो ब्रह्माण्ड के रहस्य को जाना जा सकता है। हमारे ऋषियों ने पिण्ड से ही ब्रह्माण्ड को जानने की बात कही है और वे इस प्रक्रिया में सफल भी हुए। यौगिक प्रक्रियाओं के माध्यम से इस ब्रह्माण्ड की कोई भी वस्तु दुर्लभ एवं अज्ञेय नहीं हो सकती है। इसीलिए वैदिक ऋषि इस प्रक्रिया के द्वारा अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।

भौतिक पिण्ड तब तक कुछ कार्य नहीं करता जब तक उसका सम्बन्ध चेतना से न हो। चेतना क्या है? यह एक गम्भीर विषय है। सर्वसाधारण मानता है कि जिसमें आत्मा है वह चेतन है तथा जिसमें आत्मा नहीं वह जड़ है। आत्मसत्ता जड़-चेतन की विभाजक है क्योंकि आत्मा तो जड़-चेतन दोनों में विद्यमान है। यदि विभाजक है तो मात्र **'ऐन्द्रिय भाव'** कहा भी गया है कि **'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रिममचेतनम्'**। (चरकसंहिता पूर्वभाग 2/47)। जिन पदार्थों में इन्द्रियाँ विकसित होती है और कार्य करती है, उन्हें हम चेतन तथा जिन में इन्द्रियाँ अविकसित होती है उन्हें अचेतन कोटि में रखते हैं। वास्तविक रूप से इस सृष्टि में जड़ कुछ भी नहीं है क्योंकि यदि सृजन है तो कुछ न कुछ अंशों में वह अवश्य चेतन है परन्तु हमको अपनी अपेक्षा न्यूनातिन्यून जान पड़ता है और हम उसे जड़ मान लेते है। विचार करें तो जान पड़ता है कि मनुष्य में जो क्रिया शक्ति हैं, वह वृक्षों में नहीं है फिर भी वृक्ष बढ़ते हैं, अङ्कुरित होते हैं, फूलते हैं, फलते हैं, पुराने होते हैं, और सूख कर नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् पञ्चमहाभूतों में विलीन हो जाते हैं सृष्टि में

प्रतिक्षण कुछ न कुछ क्रिया होती रहती हैं इसी आधार पर भू-गर्भ शास्त्रियों ने पाषाण की अवस्था का आकलन किया। पाषाण में होने वाली क्रिया को भी आज अनुभव किया जा चुका है। यह भाव महर्षि व्यास ने गीता के माध्यम से व्यक्त किया कि वह गूढात्मा सबमें प्रतिष्ठित है। हर शरीर (आकृति) में आत्मसत्ता विद्यमान होती है चाहे वह शरीर जड़ हो अथवा चेतन। ऐन्द्रिय भाव में भी अन्तःकरण की प्रधानता ही मानव है। मन, बुद्धि, चित्, अहङ्कार ही अन्तःकरण होता है। आत्मा के इन चारों अन्तः रूप कारणों का अभी तक कोई भौतिक स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं हुआ जबकि प्रत्येक आहार व्यवहार में इन्हीं तत्वों की मुख्य भूमिका होती है न कि शरीर की। अगर आज तक इन तत्त्वों का कोई भौतिक स्वरूप होता तो कोई भी व्यक्ति मनचला, मूर्ख, पागल, अपराधी, पापी, सज्जन, दुर्जन व पुण्यात्मा नहीं होता क्योंकि भौतिक स्वरूप को सर्जरी के द्वारा परिवर्तित कर अनुकूल बना लेते।

मानव के भौतिक, आध्यात्मिक और दैविक दुःखों में से भौतिक दुःखों को भौतिक उपचारों से हटाया जा सकता है परन्तु अध्यात्मिक एवं दैविक दुःखों को भौतिक उपचारों से नहीं हटाया जा सकता है। वेद ने कल्प के अलौकिक यज्ञविधान से मानव के सभी दुःखों को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाता है और इस प्रयत्न में पूर्ण सफलता मिलती है इसी लिये वेदाङ्ग के रूप में कल्प प्रतिष्ठित हुआ। किसी भी एक शास्त्र को समझने के लिये उसके आधारभूत कई अन्य शास्त्रों को समझना होता है तभी हम किसी शास्त्र को समझ सकते हैं किन्तु सम्प्रति बिना वेदाङ्गों को समझे ही लोग वेद की समीक्षा करने का प्रयास करते हैं।

वैदिक साहित्य ने मानव जीवन को सुखी और सुव्यवस्थित वनाने में सर्वाधिक प्रयत्न किया है। वैदिक साहित्य में सामाजिक बुराइयों को महान् पाप कहा गया है इसमें लिप्त रहने से सर्वाधिक दुःख मिलने कि सम्भावना है। सामाजिक बुराइयों में हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, द्युतक्रीड़ा, असत्यभाषण तथा बार बार पापकर्म मे लिप्त रहने को सर्वाधिक कष्टप्रद और महापातक भी माना है। वेद ने इन सामाजिक बुराइयों को सप्त मर्यादा के रूप में स्वीकार किया है। यथा-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीले पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ (ऋ. १०/५/६)

अर्थात् वैदिक ऋषियों ने सात मर्यादाओं को स्वीकार किया है। इनमें से एक भी जो किसी को प्राप्त होता है वह पापी है। पाप से मनुष्य को रोकने वाला अग्नि है। अग्नि समीपवर्ती मनुष्य के विविध मार्गों के स्थान में, आदित्य किरणों के विचरण मार्ग में, जल के बीच में और त्रैलोक्य में स्थिर होकर विराजता है।

प्रकृति के विपरीत कार्य करना ही पाप है और पाप ही अधर्म है। प्रकृति के अनुकूल कार्य करना धर्म और प्रकृति के विपरीत कार्य करना अधर्म है। यथा -

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद् विपर्ययः ।

वेदो नारायण साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुमः ॥

पाप के बढ़ जाने से ही प्रकृति में उत्पात् होते हैं निरन्तर प्रकृति के विरुद्ध कार्य से ही प्राकृतिक उत्पात होते है। बृहद् संहिता में आचार्य वराहमिहिर ने कहा है कि -

प्रकृतेः स्वभावादन्यत्वं वैपरित्यं स एवोत्पातः इति ।

उत्पातों के उत्पति के सन्दर्भ में आचार्य भट्टोत्पल कहते है कि -

अपचारेण नाराणामुपसर्गः पापसञ्चयाद्भवति ।

संसूचयन्ति दिव्यान्तरिक्षभौमास्त उत्पाताः ॥

पाप का सञ्चय मनुष्यों के अपचार, अविनयता, अतिलोभ, असत्यभाषण, नास्तिकता और अधर्म से होता है। जैसा कि महर्षि गर्ग ने कहा है -

अतिलोभादसत्याद्वा नास्तिक्याद्वाप्यधर्मतः ।

नरापचारान्नियतमुपसर्गः प्रवर्तते ॥

मनुष्यों के उक्त व्यवहार से ही देवता (प्राकृतिक तत्व जैसे - वायु, पृथिवी, अग्नि, जल, आकाश, वनस्पति आदि ही उत्पातों का सृजन करते हैं। राजा को इनके शान्ति के उपाय करने चाहिये, तभी प्रजा सुखी रह सकती है । यथा -

मनुजानामपचारादपरक्ता देवता सृजन्त्येतान् ।

तत्प्रतिघाताय नृपः शान्तिं राष्ट्रे प्रयुञ्जीत् ॥

प्रजा सदा समाजिक बुराई से वचने के लिये देवराज इन्द्र से प्रार्थना करती हुई कहती है कि -

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।

सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ (ऋ. ७/१०४/२२)

अर्थात् हे परमात्मन् ! उलूक की भाँति जिन लोगों को दिन के दोपहर में भी दिखाई न देता हो, भेड़िये की तरह निर्बलों को दबोचने की तलाश में जो हर घात लगा कर बैठे रहते हों, चकवा पक्षी की तरह जो स्त्रैण रहता हो, गरुड की भाँति जो अभिमान में चूर हो, गिद्ध की तरह जो सर्वभक्षी हो तथा कुत्ते की तरह जो परस्पर लड़ते रहते हों ऐसे आसुरी वृत्ति के मनुष्यों से सदा हमारी रक्षा करो।

आज भी समाज में यह बुराई यथावत् यत्र तत्र सर्वत्र दिखाई देती है। इस बुराई को दूर करने का प्रयत्न सभी राष्ट्र के राष्ट्राध्यक्षों को करना चाहिये। वेदों एवं वैदिक साहित्य के माध्यम से भारतीय चिन्तन की अविरल धारा अनवरत प्रभावित होती आ रही है। इसी क्रम में वेद विद्या अनुसन्धान की शोध पत्रिका आप सुधी जनों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रतिष्ठान हर्ष का अनुभव कर रहा है। वेद विद्या का यह 28 वाँ पुष्प है। जिसमें संस्कृत, हिन्दी एवं अग्रेंजी भाषा में निबद्ध

वेदों में निहित वैदिक ज्ञान को प्रोत्साहित करने वाले शोध पत्र प्रकाशित हैं। मेरा विश्वास है कि यह वैदिक ज्ञान से परिपूर्ण शोध पत्रिका जिज्ञासुओं एवं अध्येताओं के लिये विशेष उपकारक सिद्ध होगी ।

इस अङ्क के विद्वान लेखकों के प्रति मैं आभार प्रकट करते हुये यह कामना करता हूँ कि इसी प्रकार वेद विद्या की सेवा करते हुये वेद में निहित अद्भुत ज्ञान को जिज्ञासुओं एवं अध्येताओं के समक्ष उपस्थापित करते रहेंगे।

इस अङ्क के महत्त्वपूर्ण शोध पत्रों को सुव्यवस्थित करने में वेद विद्या प्रतिष्ठान के परियोजना समिति के सदस्यों एवं कार्यक्रम अधिकारी डॉ. देवानन्द शुक्ल एवं अक्षर संशोधक डॉ. सदानन्द त्रिपाठी को विशेष धन्यवाद देता हूँ जिनके निरन्तर प्रयास से यह अङ्क प्रकाशित हो सका। इस अङ्क के प्रकाशन से जुडे सभी प्रतिष्ठान के अन्य अधिकारी एवं कर्मचारी को भी में साधुवाद देता हूँ। शमिति ।

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
सचिव
महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान,
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार)
वेदविद्या मार्ग, चिन्तामण गणेश, उज्जैन